Journal of Research and Development
A Multidisciplinary International Level Referred and Double Blind Peer Reviewed, Open Access
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-18, Issue-3(A)| March-2026

Original Article

राज्य स्वायत्तता की मांग और संघीय राष्ट्र निर्माण की आवश्यकता

अजय कुमार

शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग नीलाम्बर-पीताम्बर विश्वविद्यालय, मेदिनीनगर, पलामू, झारखण्ड

Manuscript ID:
JRD -2026-180322
ISSN: 2230-9578
Volume 18
Issue 3(A)
Pp. 114-119
March- 2026
Submitted: 15 Feb. 2026
Revised: 25 Feb. 2026
Accepted: 10 Mar. 2026
Published: 31 Mar. 2026

शोधसार:–

भारत में केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का विवरण आरम्भ से ही वाद–विवाद का विषय रहा है। *संविधान–निर्मात्री सभा में भी अनेक सदस्यों की ओर से यह आपत्ति उठाई गई थी कि शक्ति–विभाजन की यह योजना भारतीय संघ के इकाई राज्यों को 'नगरपालिकाओं' का स्थान प्रदान करती है। संविधान लागू हाने के बाद भी भारतीय संविधान की संघात्मकता को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता रहा है और राज्य सरकारों की सीमित शक्तियों को दृष्टि में रखते हुए कुछ एक संघीय संविधान स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।*

संविधान द्वारा केन्द्र सरकार को विस्तृत शक्तियां प्रदान की गई हैं और राज्यों को निस्सन्देह कम शक्तिशाली बनाया गया है। संविधान लागू होने के बाद से 1967 के चतुर्थ आम चुनाव तक भारत में केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे और उनके बीच कोई विशेष संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न नहीं हुआ जिसका मूल कारण केन्द्र और अधिकांश राज्यों में एक ही राजनीतिक दल (कांग्रेस दल) का सत्तारूढ़ होना था। सन् 1967 के आम चुनावों ने एकदलीय आधिपत्य का अन्त कर दिया और भारतीय संघ के आठ घटक राज्यों में कांग्रस दल को बहुमत प्राप्त न हो सका फलस्वरूप इन राज्यों में गैर–कांग्रेसी मिली–जुली सरकारों का निर्माण हुआ जिसके पश्चात् केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण और सामंजस्य की समस्या उत्पन्न हुई। राज्य सरकारों की ओर से स्वायत्तता की मांग की जाने लगी।

1977 के लोकसभा एवं राज्य विधानसभाओं के निर्वाचनों का विलक्षण परिणाम रहा–केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी से विन्नता रखने वाली पार्टियों का राज्यों में उदय। फलस्वरूप केन्द्र–राज्य सम्बन्ध पर नए सिरे से बहस महत्वपूर्ण हो गई। राज्यों में शासन करने वाली पार्टियां केन्द्र से और अधिक स्वतन्त्र होने की मांग करने लगीं। राज्यों की केन्द्र पर अत्यधिक वित्तीय निर्भरता की स्थिति ने एक बड़ी सीमा तक सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रवृति को बढ़ाया; अतः पर राज्यों की वित्तीय निर्भरता दूर करने के लिए पश्चिमी बंगाल की वामपन्थी सरकार ने मांग की केन्द्र के राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों में कमी करके राज्यों को अधिक–से–अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाए।

31 अक्टूबर, 1981 को राष्ट्रीय एकता पर सरदार पटेल मेमोरियल लेक्चर देते हुए राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी ने कहा कि "राज्य सरकारों को सामाजिक सेवाओं और विकास के विषयों पर जो उत्तरदायित्व दिए गए हैं उनके अनुरूप विस्तृत और लचीले राज्य कर के साधन उनके पास नहीं....केन्द्र का रूझान विकास और शासन के अधिक से अधिक विषयों का उत्तरदायित्व स्वयं लेने का है जो कि विकेन्द्रीकरण के स्वीकृत सिद्धान्त के प्रभाव को घटाता है। केन्द्र के पास राज्य में उपलब्ध सरकारी तन्त्र से अधिक कुशल और भिन्न तन्त्र नहीं है और न अनुभव यह बताता है कि केन्द्र ने राज्यों की तुलना में अधिक बुद्धिमानी, योग्यता या बाह्य तत्वों के प्रभाव से स्वतन्त्रता प्रदर्शित की हो। राज्यों ने केन्द्र ने राज्यों ने केन्द्र की इस प्रवृति को कभी पसन्द नहीं किया है.....यदि इस प्रवृति को रोका नहीं गया तो राज्यों द्वारा अधिक स्वायत्तता और स्वतन्त्रता की मांग कटुता के साथ उठाई जा सकती है।"

राज्यों की स्वायत्तता का अर्थ

भारतीय संघ में राज्यों की स्वायत्तता से अभिप्राय है कि राज्यों के आन्तरिक मामलों में केन्द्रीय सरकार की दखलन्दाजी कम हो तथा संविधान द्वारा प्रदत्त विषयों पर उन्हें निरपेक्ष सत्ता प्रयोग करने का अधिकार हो। राज्यों को अपने कार्यक्षेत्र में पूर्ण स्वायत्त बनाया जाए ताकि वे जनकल्याण के कार्यों को अपनी योजनाओं और विचारों के अनुसार स्वतन्त्र और निर्बाध रूप से कर सकें। यह स्वायत्तता वित्तीय क्षेत्र में लगभग पूरी हो। केन्द्र की राजनीतिक और प्रशासनिक शक्तियां भी न्यूनतम रहें। उसका कार्य विदेश सम्बन्ध, रक्षा, मुद्रा और जनसंचार के विषयों तक सीमित और संकुचित कर दिया जाए। उसकी कराधान की शक्ति मात्र इतनी हो जिससे वह इन कार्यों के लिए पर्याप्त साधन जुटा सकने में समर्थ हो। केन्द्र को मजबूत रखते हुए भी राज्यों को इतनी वित्तिय शक्ति प्रदान की जाए जिससे वे साधनों के अभाव में अपने को असहाय और अप्रभावशाली महसूस न करें। राज्यों की स्वायत्तता का अर्थ न तो राज्यों की स्वतन्त्रता से है और न सम्प्रभुता से। यह एक ऐसा वैधनिक दर्जा है जिसमें राज्यों को कतिपय निर्दिष्ट क्षेत्रों में पूर्ण स्वतन्त्रता तथा कम–से–कम केन्द्रीय हस्तक्षेप का आश्वासन प्राप्त होता है। राज्यों को अपने एक निश्चित क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अधिकार ही स्वात्तता है।

Creative Commons (CC BY-NC-SA 4.0)
This is an open access journal, and articles are distributed under the terms of the Creative Commons Attribution-NonCommercial-ShareAlike 4.0 International Public License, which allows others to remix, tweak, and build upon the work noncommercially, as long as appropriate credit is given and the new creations ae licensed under the idential terms.

Address for correspondence:
अजय कुमार शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग नीलाम्बर–पीताम्बर विश्वविद्यालय, मेदिनीनगर, पलामू, झारखण्ड

How to cite this article:
कुमार, . अजय . (2026). राज्य स्वायत्तता की मांग और संघीय राष्ट्र निर्माण की आवश्यकता. Journal of Research & Development, 18(3(A)), 114–119. https://doi.org/10.5281/zenodo.19630563

Quick Response Code:
Website: https://jrdrvb.org/
DOI: 10.5281/zenodo.19630563
OPEN ACCESS

Journal of Research and Development
A Multidisciplinary International Level Referred and Double Blind Peer Reviewed, Open Access
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-18, Issue-3(A)| March-2026

कर्नाटक के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री स्व. देवराज अर्स के शब्दों में, "आज की संघीय सरकार अपने कमजोर राजनीतिक चरित्र के कारण बड़े भागीदार की भूमिका निभाने में असमर्थ है। जिन परिस्थितियों के कारण संविधान–निर्माताओं ने एकात्मकता की ओर झुकाव रखा था, वे परिस्थितियां बदल चुकी हैं। अब संविधान में संशोधन करके केन्द्र और राज्यों को संघवादी ढांचे में 'समान और स्वायत्त भागीदार' बनाया जाना चाहिए। इसी से भारतीय संघ व्यवस्था प्रभावशाली ढंग से काम करेगी।" 11 फरवरी, 1978 को जम्मू–कश्मीर के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री स्व. शेख अब्दुल्ला ने कलकत्ता में 'कश्मीर मेले' का उद्घाटन करते हुए इस बात की मांग की कि तीस वर्ष पूर्व की परिस्थितियां अब नहीं रही हैं। अतः अब राज्यों को अधिक अधिकार दिए जाने चाहिए, जिससे वे अपना विकास कर सकें। केन्द्र तथा राज्यों के समस्त सम्बन्धों पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए।"

राज्यों की ओर से स्वायत्तता की मांग

1967 में गठित गैर–कांग्रसी सरकारों, विशेषतया तमिलनाडु की द्रविड़ मुनेत्र कड़गम सरकार के द्वारा राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता की मांग की गयी। तमिलानडु के तत्कालीन मुख्यमन्त्री अगन्नादुराई ने इस सम्बन्ध में कहा कि **"हमें संविधान निर्माताओं द्वारा निर्धारित राज्यों की स्वायत्तता के सिद्धान्त और व्यवहार को अपनाना चाहिए। संघात्मक संविधान में आदर्श केन्द्र द्वारा सिर्फ उतनी शक्तियां व्यवहार में लायी जानी चाहिए कि देश की सम्प्रभुता और एकता की रक्षा हो सके। राज्यों को संविधान की ओर से स्वायत्तता प्राप्त है और उनके साथ नगरपालिकाओं के समान व्यवहार नहीं किया जा सकता।"**

राजमन्नार समिति–तमिलानडु की करूणानिधि सरकार के द्वारा 22 सितम्बर, 1969 को केन्द्र तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करने के लिए चेन्नई उच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश **डॉ.पी.वी.राजमन्नार** की अध्यक्षता में एक समिति की स्थापना की गयी। समिति के दो अन्य सदस्य थ : डॉ. ए. लक्ष्मणस्वामी मुदालियर और बी. चेन्ना रेड्डी। राजमन्नार समिति और इस समिति की सिफारिशों पर विचार करने के लिए बैठायी गई अध्ययन समिति ने रिपोर्ट में कहा कि **'अन्तर्राज्य परिषद'** (Inter-State Council) की स्थापना की जानी चाहिए, जिसके द्वारा एक से अधिक राज्यों के हितों को प्रभावित करने वाले सभी विषयों पर विचार किया जाए और जिसकी सिफारिशें बाध्यकारी हों। इस समिति की अन्य प्रमुख सिफारिशें थीं : समवर्ती सूची में कम–से–कम विषय रखे जाएं, अवशेष शक्तियां राज्य सरकारों को दी जाएं,

1. नीलम संजीव रेड्डी : **राष्ट्रपति के संस्मरण,** 1989.पृ.79
2. नन्दकिशोर त्रिखा, "संघ और राज्य–एक और गोष्ठी : नतीजा कुछ नहीं" **दि नवभारत टाइम्स,** 23

राज्यपालों की नियुक्ति राज्य सरकारों की सहमती के आधार पर की जाए और आय–कर एकत्रित करने की शक्ति राज्य सरकारों को सौंप दी जाए।

1971 के लोकसभा चुनावों के बाद तमिलनाडु के मुख्यमंत्री करूणानिधि द्वारा स्वायंत्तता की मांग को फिर से अधिक बल के साथ दोहराया गया और 1972 के प्रारम्भ से सत्ता कांग्रेस और डी. एम. के. के पारस्परिक सम्बधों में दरार पड़ जाने के बाद स्वायत्ता के प्रश्न पर केन्द्र और तमिलानडु सरकार का पारस्परिक विरोध और बढ़ गया। केन्द्रीय सरकार के द्वारा स्वायत्तता की मांग को भारतीय संघ की एकता के विरूद्ध बतलाते हुए इसके प्रति अपनी असहमति व्यक्त कर दी गयी।

1977–99 के वर्षों में स्वायत्तता की मांग

1977 में राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन के बाद स्वायत्तता की मांग को पुनः उठाया गया। अब इस प्रकार की मांग **पश्चिम बंगाल के बामपन्थी मोर्चे की सरकार** और उसके मुख्यमन्त्री ज्योति बसु द्वारा की गयी तथा जम्मू–कश्मीर राज्य के मुख्यमंत्री और नेशनल कांफ्रेंस के नेता शेख अब्दुल्ला तथा कुछ अन्य के द्वारा इसका समर्थन किया गया। मुख्यमन्त्री ज्योति बसु ने घोषणा की कि **'स्वायत्तता के प्राचीन पर विचार के लिए शीघ्र ही दिल्ली में एक सेमिनार आयोजित की जायेगी, जिसमें सभी मुख्यमन्त्रियों की आमन्त्रित किया जायेगा।'** वामपन्थी मोर्चे की सरकार द्वारा एक परिपत्र भी तैयार कर सभी राज्यों को भेजा गया, जिसमें 7 मांगे की गयी :

(1) केन्द्र के पास प्रतिरक्षा, विदेश सम्बन्ध, विदेश व्यापार, मुद्रा संचार तथा आर्थिक समन्वय जैसे विषय ही रहने चाहिए। बाकी बचे सभी विषय राज्यों को दिये जायं। अवशिष्ट शक्तियां भी राज्यों को दे दी जायं।
(2) संविधान की धारा 356 व 357 पूर्ण रूप से समाप्त कर दी जायें तथा राज्यमाल के पद को पूर्ण संवैधानिक जाय।
(3) संविधान की प्रस्तावना में 'यूनियन' (Union) शब्द के स्थान पर **'फेडरेशन'** (Federation) शब्द को अपनाया जाय।
(4) राज्य विधानमण्डल के द्वारा पारित कानून किसी भी स्थिति में राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित नहीं जाना चाहिए।
(5) योजना आयोग के स्वरूप तथा गठन का निश्चय राष्ट्रीय विकास परिषद के द्वारा किया जाना चाहिए।
(6) केन्द्र सरकार की आय का 75 प्रतिशत भाग राज्यों को दिया जाना चाहिए।
(7) राज्यसभा के सदस्यों का निर्वाचन जनता द्वारा किया जाना चाहिए। राज्यसभा में सभी राज्यों का प्रतिनिधित्व समान होना चाहिए तथा दोनों सदनों के अधिकार भी समान होने चाहिए।

उपर्युक्त मांगे के आधार पर मार्क्सवादी दल द्वारा संविधान में व्यापक संशोधनों की मांग की गयी। यद्यपि जम्मू–कश्मीर राज्य को भारतीय संघ के अन्य राज्यों की तुलना में अधिक स्वायत्तता प्राप्त है,
लेकिन फिर भी जम्मू–कश्मीर राज्य के मुख्यमंत्री द्वारा भी राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता की मांग की गयी।[1] **1 अक्टूबर, 1977** को **'इण्डियन इन्स्टीयूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन'** के तत्वावधान में हुई एक सेमिनार की अध्यक्षता करते हुए शेख अब्दुल्ला ने कहा कि **'समय आ गया है जबकि कानूनवेत्ताओं को केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना चाहिए'** तथा इस विषय पर राष्ट्रीय बहस होनी चाहिए।[2] पंजाब में सत्तारूढ़ अकाली दल तथा तमिलनाडु की अन्नाा डी. एम. के. सरकार द्वारा भी इस मांग को समर्थन प्रदान किया गया।

तत्कालीन प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने इस बात को तो स्वीकार किया कि स्वायत्तता या अन्य किसी भी प्रश्न पर मुख्यमन्त्री या अन्य किसी भी व्यक्ति के साथ विचार–विमर्श किया जा सकता है, किन्तु उन्होंने इस मांग को पूर्णतया ठुकरा दिया कि 'केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर राष्ट्रीय बहस होनी चाहिए।' उनके अनुसार राज्यों को अधिक अधिकार देने का अर्थ केन्द्र को कमजोर करना है। भारत जैसे विशाल देश में जिसमें विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय, भाषा और जातियां, आदि हो, उसमें राष्ट्रीय एकता बनाये रखने के लिए केन्द्र का पर्याप्त शक्तिशाली होना आवश्यक है।

Journal of Research and Development
A Multidisciplinary International Level Referred and Double Blind Peer Reviewed, Open Access
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-18, Issue-3(A)| March-2026

1980–88 के वर्षों में विपक्षी दलों और गैर–कांग्रेस 'इ' शासित राज्य सरकारों (प्रमुखतया पं. बंगाल की वामपन्थी मोर्चा सरकार, आन्ध्र की तेलुगू देशम, कर्नाटक की जनता पार्टी और जम्मू–कश्मीर की फारूख अब्दुल्ला सरकार) द्वारा स्वत्तता की मांग की जाती रही है। 1983–84 के वर्षों में विपक्षी दलों के क्रमशः **हैदराबाद, दिल्ली और श्रीनगर सम्मेलन** हुए। इन सम्मेलनों का एक प्रमुख विषय था : केन्द्र–राज्य सम्बन्ध और इन सम्मेलनों में राज्य सरकारों के कार्यक्षेत्र में केन्द्रीय हस्तक्षेप का विरोध करते हुए राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता की मांग की गयी। केन्द्रीय सरकार तथा तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी का दृष्टिकोण यह था कि इस प्रकार की स्वयत्तता की मांग का लक्ष्य केन्द्रीय सरकार को कमजोर करना है और इस प्रकार की किसी भी मांग को स्वीकार करना भारतीय संघ की एकता, अखण्डता तथा आर्थिक और राजनीतिक स्थायित्व के हित में नहीं है।

वस्तुतः पं. बंगाल की वामपन्थी मोर्चा सरकार द्वारा केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर पुनर्विचार की आवश्यकता बतलाते हुए 1977 में जो '7–सूत्री मांगपत्र' प्रस्तुत किया गया, वह तो निश्चित रू॰ से और नितान्त अनुचित है। उदारहण के लि, सन्तुलित दृष्टिकोण रखने वाला कोई भी व्यक्ति इस मांगपत्र के प्रथम और सर्वाधिक प्रमुख सूत्र को स्वीकार करने की बात सोच ही नहीं सकता। जब इन राज्य सरकारों के द्वारा इस प्रकार की बेतुकि बातें की जाती हैं, कभी '**हिन्दी विरोध**' और कभी **'उत्तर–दक्षिण का प्रश्न'** खड़ा किया जाता है और कभी ऐसे आन्दोलन को परोक्ष समर्थन दे दिया जाता है जो भारत की एकता और अखण्डता के विरूद्ध हो, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि 'स्वायत्तता के प्रश्न को चुनावी राजनीति के शस्त्र के रूप में अपनाया जा रहा है।'

मार्च–अप्रैल 1991 में उड़ीसा के मुख्यमन्त्री और जनता दल के एक नेता बीजू पटनायक द्वारा भी स्वायत्तता का प्रश्न उठाया गया। उन्होंने प्रधानमन्त्री को लिखे पत्र में कहा कि केन्द्र सरकार के पास केवल रक्षा, विदेश और मुद्रा का अधिकार होना चाहिए। राज्यों को यह अधिकार दिया जाये कि वे अपनी विकास की योजना स्वयं बनायें और अन्तर्राष्टीय वित्त संस्थानों से सीधे समझौते कर सकें। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि भारत की एकता को बनाये रखने के लिए राज्यों को स्वायत्तता और आर्थिक स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। 1992 में उत्तर प्रदेश और राजस्थान के मुख्यमन्त्रियों द्वारा भी राज्यों के लिए अधिक वित्तीय साधनों की मांग की गई है। 1996–2003 ई. के वर्षों में प. बंगाल, राजस्थान,पंजाब, आंध्र प्रदेश और अन्य कुछ राज्यों के मुख्यमंत्रियों द्वारा समय–समय पर यह मांग की गई है कि राज्यों को कानून निर्माण, प्रशासन तथा विशेष रूप से वित्तीय क्षेत्र में अधिक अधिकार दिये जाने पर ही राज्य विकास के मार्ग पर आगे बढ़ सकेंगे और केन्द्र–राज्य सम्बन्ध सुचारू रूप से संचालित होंगे।

यद्यपि राज्यों के लि अधिक शक्तियों और वित्तीय साधनों की मांग अनेक बार चुनावी राजनीति के मुद्दे के रूप में की जाती है, लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राज्यों को अधिक अधिकार विशेषतया आर्थिक क्षेत्र में अधिक अधिकारों के प्रश्न पर गम्भीरता के साथ विचार किये जाने की आवश्यकता है। भारतीय संघ के पूर्व राष्ट्रपति आर. वेंकटरमण द्वारा भी विचार व्यक्त किया गया कि "यदि हम समाज में विभाजनकारी शक्तियों को नियंत्रित करना चाहते हैं तो हमें राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता की मांग पर विचार करना और उसके साथ सामंजस्य स्थापित करना होगा।" उन्होंने यह बात 7 मई, 1992 को मौलाना आजाद स्मृति भाषण में कहीं।[1]

राज्य स्वायत्तता क्यों जरूरी है?

स्वायत्तता स्वतन्त्रता नहीं है और स्वायत्तता की मांग संघीय ढांचे के अन्तर्गत ही की जा रही है, अतः इससे विघटन का खतरा नहीं है, राज्यों के कार्य दिन–प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। आर्थिक नियोजन और ग्रामीण विकास सम्बन्धी बढ़ते हुए कार्यों को देखते हुए उन्हें वित्तीय साधनों की दृष्टि से केन्द्र का मोहताज बनाए रखना ठीक नहीं। आय के पृथक् वित्तिय साधन होने से विकास सम्बन्धी कार्यों एवं दायित्वों के निर्वाह में अधिक सुविधा होगी, केन्द्र और राज्यों में पृथक्–पृथक् राजनीतिक दलों की सरकारें होना स्वाभाविक है, किन्तु यह देखा गया है कि राज्यों को अनुदान देते समय केन्द्रीय सरकार सौतेला व्यवहार करती है। वह उन राज्यों के साथ सौम्य व्यवहार करती है जहां उससे मेलजोल रखने वाली राज्य सरकार है और उन राज्यों के साथ कठोर रूख अपनाती है जहां उसकी विचारधारा से भिन्नता रखने वाली राज्य सरकार है। राज्य स्वायत्तता से यह दोहरा मापदण्ड समाप्त होगा, अनुदानों की प्रक्रिया एवं शैली को लेकर भी भेदभाव की शिकायत की जा रही है। जहां गेहूं पर सरकार 23 रूपए प्रति क्विण्टल का अनुदान देती है वहां चावल पर यह अनुदान सिर्फ 4 पैसे प्रति क्विण्टल आता है। इन अनुदान का लाभ उत्तरी राज्यों को तो मिलता है जहां लोग गेहूं अधिक खाते हैं मगर चावल उगाने और खाने वाले दक्षिणी राज्यों को इसका कोई लाभ नहीं मिला। इस तरह के भेदभाव मिटाने में भी राज्यों की आर्थिक स्वायत्तता कारगर साबित हो सकती है, राज्य स्वायत्तता से भारत में सच्ची संघात्मक व्यवस्था की स्थापना हो सकेगी। फिलहाल तो राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं जैसी है। राज्य सूची के विषयों में भी केन्द्रीय सरकार को अपदस्थ कर सकती है। राज्य स्वायत्तता की अवधारणा के क्रियान्वयन से ही 'समान और स्वायत्त भागीदारी' वाली संघ व्यवस्था अस्तित्व में आएगी, राज्य स्वायत्तता से राज्यों में उत्तरदायित्व की भावना विकसित होगी। वे अपनी आय के अधिकतम स्त्रोत ढूंढेंगे और केन्द्र पर निर्भर रहना छोड़ देंगे। आज कई राज्य अनाशनाप खर्च बढ़ाते जा रहे हैं क्योंकि वे जानते हैं कि अन्त में केन्द्रीय सरकार 'ओवरड्राफ्ट' अनुदान, आदि द्वारा उनकी मदद करेगी।

भूतपूर्व राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी के अनुसार, "श्शक्तिशाली केन्द्र का अर्थ दिल्ली में शक्ति का केन्द्रीकरण करने से नहीं है और राज्यों को अधिक स्वायत्तता देना केन्द्र को कमजोर करना नहीं है। मेरा विश्वास है कि केन्द्र राज्यों से उनकी पहल करने और निर्णय करने की शक्ति लेकर शक्तिशाली नहीं बनता, वह केवल तभी शक्तिशाली होता है जब राज्यों को अपनी प्रशासनिक और विकास की समस्याओं को स्वयं हल करने की क्षमता और स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।"[2]

राज्यों की स्वायत्तता की आवश्यकता

केन्द्रीय सरकार (चाहे कांग्रसे दल की हो अथवा जनता पार्टी की) की दृष्टि में राज्य स्वायत्तता की अवधारणा से संघ व्यवस्था दुर्बल होगी और राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से खतरनाक परिणाम होंगे। इसके विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाए हैं, कुल मिलाकर देश की सुदृढ़ता ही राज्यों की स्वायत्तता की सर्वोत्तम गारण्टी है क्योंकि किसी प्रकार वह मजबूती समाप्त हो जाए तो न तो भारतीय संघ की प्रभुसत्ता रहेगी और न ही राज्यों की स्वायत्तता रह सकेगी। देश आर्थिक संकट और राजनीतिक उथल–पुथल से गुजर रहा है। बदलती हुई परिस्थितियों में राज्य स्वायत्ता की मांग करना देश को अराजकता, विघटन तथा विनाश की ओर ले जाना है। राजमन्नार समिति के सुझाव तो संविधान की आत्मा को ही बदलने वाले खतरनाक विचार हैं। यदि समिति के प्रतिवेदन को मान लिया जाए तो राज्य लगभग स्वायत्तशासी हो जायेंगे। न्याय, योजना, विदेशी मुद्रा, औद्योगिक लाइसेंस सब कुछ ही राज्यों के हाथों में चले जाने के बाद में क्या राज्यों की स्थिति स्वाधीन राष्ट्रों से कुछ कम होगी ? वस्तुतः समिति का प्रतिवेदन क्षेत्रीयता को बढ़ाने वाला और राष्ट्रीय एकता को क्षति पहुंचाने वाला है। आज भारतीय संघ के घटक राज्य स्वायत्तता की मांग कर रहे हैं और स्वायत्तता के बाद उनकी अगली मांग स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता हो सकती है। प्रादेशिक दलों द्वारा शासित राज्य सरकारों की स्वायत्तता की मांग के पीछे कहीं विदेशी ताकतों का हाथ तो नहीं जो भारत को खण्डित करना चाहती हैं, राज्यों को और अधिक स्वायत्तता देने से राज्यों में छोटी–छोटी तानाशाही स्थापित हो जायेंगी। राज्य के भीतर निर्णय और कार्य की शक्ति मुख्यमन्त्रियों के हाथों में घनीभूत हो जायेगी, साम्राज्य निर्माण की प्रवृति बढ़गी और देश का सन्तुलन लड़खड़ा जाएगा। तमिलानाडु की

Journal of Research and Development
A Multidisciplinary International Level Referred and Double Blind Peer Reviewed, Open Access
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-18, Issue-3(A)| March-2026

मुख्यमन्त्री जयललिता के निर्देश पर 30 जून, 2001 को जिस ढंग से दो केन्द्रीय मन्त्रियों– मुरासोली मारन और टी. आर. बालू की गिरफ्तारी करवाई गई और उनके खिलाफ मुकदमे दर्ज किए गए, वह सम्पूर्ण नाटक यह इंगित करता है कि देश की कमान केन्द्र के हाथ में बनी रहनी चाहिए। संविधान के अनुच्छेद 356 व 357 के अनुसार भारतीय संघ के राष्ट्रपति राज्यों में वित्तीय संकट उत्पन्न होने पर, संवैधानिक व्यवस्था असफल होने पर व आपातकालीन स्थिति में राज्य के राज्यपाल की सलाह पर राज्य विधानसभा को भंग करने का अधिकार रखते हैं। इन अधिकारों के अभाव में भारतीय संघ, जिसे संविधान में अंगीकृत किया गया है, के स्वरूप को धक्का पहुंचेगा और वह नष्ट भी हो सकता है। इस मांग का आधार कांग्रेसी शासन के दौरान राज्य विधानसभाओं को अधिक संख्या में भंग होना कहा जा सकता है। इस अधिकार के दुरूपयोग को रोकने के लिए सरकारिया आयोग तथा संविधान समीक्षा आयोग ने पर्याप्त सुझाव दिए हैं। बोम्मई केस में उच्चतम न्यायालय के दिशा–निर्देश भी पर्याप्त सुरक्षा प्रदान करते हैं। क्षेत्रीय दलों और उनके नेताओं द्वारा राज्यों की स्वायत्तता की मांग एक सुनियोजित और गम्भीर राजनीतिक चाल है, जिसके द्वारा कुछ तत्व अपने न्यस्त राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते हैं। मार्क्सवादियों ने प्रारम्भ से ही राज्यों के विघटन की मांग का समर्थन किया है। इस कड़ी में तेलंगाना विद्रोह स्मरण किया जा सकता है। कुछ समय पूर्व राज्यों के पुनर्गठन की मांग उठी थी। अब राज्यों की स्वायत्तता के माध्यम से ये लोग आम जनता में इस बात को चर्चा का मुद्दा बनाना चाहते हैं ताकि लोकमत का झुकाव उनकी तरफ हो सके।

राज्य स्वायत्तता : कितनी और क्यों?

राज्य स्वायत्तता के विपक्ष में तर्क प्रस्तुत करने के उपरान्त भी संघ व्यवस्था पर बदली हुई परिस्थितियों में पुनर्विचार किया जाना आवश्यक है। राज्यों को आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़ा करने के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्र के कतिपय कर सम्बन्धी अधिकार राज्यों को हस्तान्तरित कर दिए जाएं। आय–कर में भागीदारी के अलावा यदि उत्पादन शुल्क लगाने का अधिकार राज्यों को दिया जाए और राज्यों को अपनी आवश्यकतानुसार आवश्यक ऋण लेने का अधिकार प्राप्त हो जाए तो राज्य आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो जायेंगे। उनहें अनुदान अथवा ऋण के लिए समय–समय पर संघ की ओर मुंह नहीं ताकना पडेगा।

इसके अतिरक्त, संघ सूची के कतिपय विषय एसे हैं जो बिना केन्द्र की वास्तविक शक्ति को आंच पहुंचाए राज्यों को सौंपे जा सकते हैं। जैसे : राष्ट्रीय मार्ग अभी केन्द्र के अधीन हैं, परन्तु इन मार्गों की देखरेख का सारा जिम्मा राज्यों पर है। अतः यह विषय राज्यों को सौंपा जा सकता है, इस समय राज्य सरकार कोई लाटरी बिना भारत सरकार को स्वीकृति के जारी नहीं कर सकती। यह अंकुश बेमानी है और इसे समाप्त किया जाना चाहिए। संघ सूची के अनुसार व्यापार संस्थान केवल मात्र केन्द्र की स्वीकृति से स्थापित अथवा समाप्त किए जा सकते हैं। बैंक जैसी संस्थाओं को छोड़कर अन्य व्यापारिक संस्थान स्थापित करने का अधिकार राज्यों को होना चाहिए।

इस समय लगभग सभी महत्वपूर्ण उद्योगों के लाइसेंस जारी करना केन्द्र के हाथ में है। यह स्थिति समाप्त की जानी चाहिए। केन्द्र के पास केवल वे उद्योग होने चाहिए जो देश की सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक हों। अन्य उद्योगों के सम्बन्ध में राज्यों को अपनी आवश्यकतानुसार विकास करने की छूट होनी चाहिए, संविधान में केन्द्र को अधिकार दिए गए हैं कि खनिज–पदार्थों के विकास के लिए वह आवश्यक कानून बनाए। केन्द्र का यह अधिकार केवल उन खनिज–पदार्थों के विकास के लिए वह आवश्यक दृष्टि से महत्वपूर्ण हों, जैसे–यूरेनियम, पेट्रोलियम, आदि, योजना आयोग के माध्यम से केन्द्र ने राज्यों के वे अधिकार हथिया लिए हैं जो संविधान द्वारा केन्द्र को प्रदान नहीं किए गए हैं। योजना का एक परिणाम यह हुआ कि राज्यों को संवैधानिक रूप से आबांटित क्षेत्रों में अपने आपको निःसहाय महसूस करना पड़ा। शिक्षा, दवाइयां, जनस्वास्थ्य, कृषि, सहकारिता, समाज कल्याण व औद्योगिक आवास व्यवस्था जैसे विषयों पर राष्ट्रीय योजनाओं द्वारा राज्यों की स्वायत्तता पर कुठाराघात हुआ। अतः योजना आयोग के संगठन में आमूलचूल परिवर्तन होना चाहिए। जहां तक योजना आयोग के सदस्यों की नियुक्ति का प्रश्न है पश्चिमी बंगाल मन्त्रिमण्डल का यह सुझाव ठीक प्रतीत होता है कि ये नियुक्तियां राष्ट्रीय विकास परिषद् की सहमति से की जानी चाहिए, राज्यों के छोटे और बड़े सभी प्रकार के कर्मचारियों पर राज्य सरकारों का नियन्त्रण होना चाहिए। अखिल भारतीय सेवाओं को समाप्त कर दिया जाए और भवष्यि में केवल मात्र केन्द्रीय सेवाएं केन्द्र के लिए और राज्य सेवाएं राज्य के लिए हों, केन्द्र को केवल संघ सूची से सम्बन्धित विषयों पर कानून बनाने का अधिकार होना होना चाहिए। शेष विषयों पर कानून बनाने की शक्ति राज्यों में निहित होनी चाहिए, तदनुसार संविधान का अनुच्छेद 249 समाप्त कर दिया जाना चाहिए, संविधान के अनुच्छेद 356 तथा 357 का दुरूपयोग अधिक हुआ है। इस अधिकार का दुरूपयोग केन्द्र की कांग्रेस सरकार ने सबसे पहले सन् 1959 में किया जबकि उसने संविधान द्वारा स्थापित केरल की साम्यवादी सरकार और विधानसभा को भंग कर प्रशासन अपने हाथ में लि लिया। जनता पार्टी द्वारा शासित केन्द्रीय सरकार ने अप्रैल 1977 में तथा कांग्रेस (आई.) की सरकार ने फरवरी 1980 में नौ राज्यों में एक साथ राष्ट्रपति शासन लागू किया तो प्रचलित अभिसमय का उल्लंघन किया चूंकि किसी भी राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन लागू करने के सम्बन्ध में रिपोर्ट नहीं दी थी। इस प्रकार अनुच्छेद 356 राज्यो की प्राशसनिक स्वायत्तता का अन्त करने वाला है, अतः इस प्रावधान की तर्कसंगत समीक्षा की जायें, केन्द्रीय सरकार को राज्य के राज्यपाल पद पर नियुक्ति करते समय सम्बन्धित राज्य के मन्त्रिमण्डल के दृष्टिकोण को ध्यान में रखना चाहिए, इस विषय पर उच्चस्तरीय विचार–विमर्श होना चाहिए कि राज्यों के वित्तीय साधनों में वृद्धि के लिए क्या किया जा सकता है। राज्यों के राजनीतिक अधिकारों की अपेक्षा राज्यों की वित्तीय शक्तियों एवं साधनों का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है और राज्य सरकार के निरन्तर घाटे के बजट एव आय के सिकुड़ते साधनों के परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न विचारणीय है कि वित्तीय सुदृढ़ता किया प्रकार प्रदान की जा सकती है। राज्यों की स्वायत्तता का प्रश्न महज राजनीतिक दृष्टि एवं आधार से परे राज्यो की प्रशासनिक जिम्मेदारी जनहित के काम और विकास की दूरूहताएं. आदि सन्दर्भ में विचारणीय है।[1]

आठवीं पंचवर्षीय योजना के प्रारूप पर अपनी स्वीकृति देने के लिए आयोजित राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक (23 मई, 1992) में राजस्थान के तात्कालीन मुख्यमन्त्री भैरोंसिह शेखावत ने कहा कि 1976 में 42वें संविधान संशोधन द्वारा 5 विषय राज्य सूची से हटाकर समवर्ती सूची में स्थानन्तरित किए गए। इसमे इन क्षेत्रों में सुधार होने के बजाय स्थिति खराब हुई है क्योंकि इन सभी क्षेत्रों में मुख्य दायित्व राज्य सरकार का होता है और दोहरे नियन्त्रण से हाति होती है। उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि परिवार नियोजन, शिक्षा, आदि इन सभी क्षेत्रों में उपलब्धियां देखी जाये तो 1976 से आज की हालत खराब है। इसी प्रकार वन का विषय केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में आने के बाद न केवल राजस्थान बल्कि सभी राज्यों में वनों का क्षेत्र (फोरेस्ट कवर) कम हुआ है। उन्होंने जोरदार शब्दों में अपील की कि 42वें संशोधन से स्थानान्तरित ये सभी विषय संविधान में पुनः संशोधन कर राज्य सूची में शामिल किये जायँ।[2]

संघीय राष्ट्र निर्माण हेतु केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में सुधार की आवश्यकता तथा सुझाव

भारतीय संविधान द्वारा भारत में एक संघ राज्य की स्थापना की गई। यह संघीय व्यवस्था संचालित हो रही है, लेकिन इसके समस्त कार्यकरण पर विचार की आवश्यकता है। संविधान निर्माताओं ने भारत में एक **'सहयोगी संघवाद'** की कल्पना की थी तथा केन्द्र और राज्यों के बीच सहयोग के लिए विभिन्न संस्थाओं को अपनाया गया है। सहयोगी संघवाद का आश्य है : केन्द्र और राज्या अधिकतम सम्भव सीमा तक एक–दूसरे के साथ जुड़कर देश को शक्तिशाली बनावें और देश को विकास की उच्चतम ऊचांइयों तक ले जाना। इस स्थिति को

Journal of Research and Development
A Multidisciplinary International Level Referred and Double Blind Peer Reviewed, Open Access
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-18, Issue-3(A)| March-2026

हम आंशिक रूप से ही प्राप्त कर पाए हैं, लगभग 55 वर्षों का संवैधानिक इतिहास सफलता–असफलता की मिश्रित कहानी है। राज्यों का कहना है कि अपना अपेक्षित विकास इसलिए नही कर पाए हैं कि उन्हें विकास से सम्बद्ध अनेक विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति प्राप्त नहीं है तथा उनके वित्तीय साधन भी सीमित हैं। केन्द्र का कहना है कि रात्य सरकारें स्वयं राज्य और संघ के प्रति अपने दायित्व भलीभांति नहीं निभा रही हैं। न तो वे सुव्यवस्थित रूप में शासन संचालन कर पा रही हैं और न ही उनके द्वारा वित्तीय अनुशासन और 'विकास रणनीति' को अपनाकर राज्य को विकास के मार्ग पर आगे बढ़ाया जा रहा है।

संघीय राष्ट्र निर्माण का कार्य तभी सम्भव है जबकि एक ओर तो राष्ट्रीय स्तर की राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए शक्तिशाली केन्द्र हो तथा दूसरी ओर राज्य भी शक्तिशाली हों ताकि वे सुव्यवस्था स्थापित कर विकास के मार्ग पर आगे बढ़ सकें। शक्तिशाली केन्द्र और शक्तिशाली राज्य इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, वरन् वे एक–दूसरे के पूरक हैं। दोनों पक्ष शक्तिशाली और लोक उन्मुख होने पर ही उनके द्वारा परस्पद् सद्भावना पूर्ण दृष्टीकोण अपना पाना सम्भव है। संघीय राष्ट्र निर्माण या संघीय व्यवस्था को शक्तिशाली बनाने संघीय व्यवस्था के सुचारू संचालन के लिए प्रमुखतया निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं :

इस सम्बन्ध में एक सुझाव अन्तर्राज्य परिषद की स्थापना का दिया जात रहा है। इस परिषद की स्थापना जून1990 में की गई है। आवश्यकता इस बात की है कि परिषद का एक संस्था के रूप में विकास किया जाय।

राज्यपाल पद के सम्बन्ध में स्वस्थ स्थिति–पिछले लगभग 35 वर्षों में राज्यपाल पद सर्वाधिक विवाद का विषय रहा है और यह पद विकृति की दिशा में आगे बढ़ा है। आज विपक्षी दलों की राज्य सरकारें राज्यपाल को **'केन्द्र के शासन दल का एजेण्ट'** बतलाते हुए पद को ही समाप्त करने की मांग कर रही है। राज्यपाल पद को समाप्त नहीं किया जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि इसे पुनः सम्मानित स्थिति दी जाय और इसके लिए कुछ स्वस्थ परम्पराओं को अपनाया जाना चाहिए। **प्रथम** राज्यपाल पद पर केवल ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त किया जाना चाहिए जो दलीय राजनीति के दल दल में अपेक्षाकृत कम धंसे हुए हो और जिन्हें सभी पक्षों की ओर से सम्मान प्राप्त हो। **द्वितीय** केन्द्रीय सरकार को राज्य के राज्यपाल पद पर नियुक्ति करते समय सम्बन्धित राज्य के मन्त्रिमण्डल के दृष्टीकोण को ध्यान में रखना चाहिए और यह कार्य आपसी सहमती के आधार पर किया जाना चाहिए।

अब तक के संवैधानिक इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जबकि अनुच्छेद 356 का प्रयोग मनमाने तौर पर दलीय या गुटीय स्वार्थों के लिए किया गया। भविष्य में कभी भी मात्र केन्द्र के सत्तारूढ़ दल के स्वार्थ के लिए राज्य में राष्ट्रपतिशासन लागू किया जाना चाहिए।

केन्द्रीय सरकार के द्वारा विवेकात्मक अनुदानों का मनमर्जी के आधार पर वितरण नहीं किया जाना चाहिए वरन् इस सम्बन्ध में निश्चित सिद्धान्त होने चाहिए। इसके साथ ही विवेकात्मक अनुदानों की मात्रा कम की जानी चाहिए और स्थायी अनुदानों की मात्रा बढ़ायी जानी चाहिए।

इस विषय पर उच्चस्तरीय विचार–विमर्श होना चाहिए कि राज्यों के वित्तीय साधनों में वृद्धि के लिए क्या किया जा सकता है? अभी हाल में ही राज्यों के वित्तीय साधनों की वृद्धि के सम्बन्ध में कुछ कदम उठाये गये हैं, लेकिन अभी इस सम्बन्ध में बहुत अधिक किया जाना शेष है। स्वयं राज्यों के द्वारा भी सस्ती लोकप्रियता की स्थिति से दूर रहतू हुए अपने वित्तीय साधनों में वृद्धि और खर्च में मितव्ययता के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये जाने चाहिए। यह तथ्य है कि अधिकांश राज्यों की सरकारों द्वारा इस प्रसंग में अपेक्षित प्रयत्न न तो अब किये जा रहे हैं। राज्यों के वित्तीय साधनों में वृद्धि के लिए अन्य भी कुछ सुझाव दिये जा सकते हैं।

केन्द्र–राज्य वित्तीय सम्बन्धों में अभी हाल ही के वर्षों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। सातवें, आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें वित्त आयोगों ने केन्द्र के द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले वित्तीय अनुदानों में वृद्धि के लिए सिफारिशें कीं और केन्द्र के द्वारा उन्हें स्वीकार कर लिया गया। राज्यों के वित्तीय साधनों में और अधिक वृद्धि की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। इस दृष्टि से ग्यारहवें वित्त आयोग की सिफारिशों से राज्यों को इस वित्त वर्ष में 96,000 करोड़ रूपए उपलब्ध होंगे जोकि केन्द के कर तथा गैर–कर राजस्व का 37.5% होगा। केन्द्र सरकार ने इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया है।[1] 12वें वित्त आयोग द्वारा राज्य सरकारों के वित्तय साधनों में और अधिक वृद्धि कर दी गई है। अब राज्य सरकारों केा केन्द्र के कर तथा गैर–कर राजस्व का 38 प्रतिशत प्राप्त होगा। केन्द्र ने वित्त आयोग की सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है। राज्यों की वित्तीय स्थिति में सुधार और केन्द्र तथा राज्यों के बीच वित्तीय असन्तुलन को दूर करने की दिशा में यह एक बहुत अधिक महत्वपूर्ण सिफारिश है।

निष्कर्ष–

कमजोर केन्द्र बिखराव को प्रोत्साहित करता है तथा दूसरी ओर कमजोर राज्यों के कारण केन्द्र में निरंकुश प्रवृत्तियों के उभरने का खतरा भी है। आपातकाल का अनुभव इसका ताजा उदाहरण है जबकि राज्यों को आज्ञाकारी शिशुओं से बदतर बना दिया गया और केन्द्र द्वारा संवैधानिक शक्तियों के अपहरण पर राज्य सरकारें चूं तक नहीं कर सकीं। अतः केन्द्र और राज्यों के बीच सम्बन्धों की एक सन्तुलनकारी स्थिति को अपनाए जाने की आवश्यकता है।"

राज्यों की वित्तीय दुर्दशा ऐसी है कि राज्य सरकारें अपने बलबूते पर कोई योजना चालू नही कर सकती और अकाल, सूखा व बाढ़ जैसे प्राकृतिक प्रकोपों का सामना करने के लिए केन्द्र अनुनय–विनय करती हैं। हर छोटे–से काम के लिए मुख्यमन्त्रियों को बार–बार दिल्ली दरबार में हाजिरी देनी पड़ती है। राज्य विधानसभा द्वारा पारित प्रस्ताव राष्ट्रपति की स्वीकृति की प्रतीक्षा में पड़ रहते हैं।

राष्ट्रीय एकता व सुरक्षा की दृष्टि से केन्द्र के सशक्त होने की आवश्यकता निर्विवाद है तो जनहितकारी कार्यों के विस्तार तथा सेवाओं को क्षमतावान बनाने के लिए राज्यों की साधिकारिता भी तर्कमंगल ठहरती कार्यों के विस्तार तथा सेवाओं को क्षमतावान बनाने के लिए राज्यों की साधिकारिता भी तर्कसंगत ठहरती है। अतः राज्यों की स्वायत्तता एवं उनके शासनाधिकार के विस्तार का प्रश्न वस्तुपूरक कसौटी पर जांचा व परखा जाए। इस प्रश्न पर विचार करते समय देश की स्थिति, अब तक का अनुभव एवं देशवासियों की आकांक्षा व आवश्यकताओं को आधार बनाया जाना चाहिए। **भारत की संघात्मक व्यवस्था और केन्द्र–राज्य सम्बन्धों का सर्वाधिक प्रमुख तथ्य यह है कि राज्यों को सशक्त बनाने का अर्थ केन्द्र को आशक्त बनाना नहीं है और केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की कोई ऐसी समस्या नहीं है जो संविधान के वर्तमान ढांचे में हल न की जा सके।**

संदर्भ सूची

(1) रेडडी नीलम संजीव, राष्ट्रपति के संस्मरण, 1989, पृ॰ 79
(2) त्रिखा नन्दकिशोर, संघ और राज्य एक और गोष्ठी नतीजा कुछ नहीं दि नवभारत टाइम्स, 23 दिसम्बर 1978, पृ॰–4
(3) नवभारत टाइम्स 23 दिसम्बर 1978, पृ॰–4
(4) राजस्थान पत्रिका, 29 जनवरी 1978 पृ॰–4
(5) हिन्दुस्थान टाइम्स, 12 फरवरी 1978

Journal of Research and Development
A Multidisciplinary International Level Referred and Double Blind Peer Reviewed, Open Access
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-18, Issue-3(A)| March-2026

(6) हिन्दुस्थान टाइम्स, 12 फरवरी 1978
(7) मंडावत डॉ॰ श्याम लाल, राज्यों कि आर्थिक स्वयत्तता कहा तक, 8 मार्च 1992, प्रकाशक, हिमालय पब्लिसिंग हाऊस जयपुर, पृ॰ 33
(8) रेड्डी संजीव, राष्ट्रपति के संस्मरण पृ॰–8
(9) संविधान सभा वाद–विवाद भाग 7 पृ॰–33
(10) वेगम रहमत, भारतीय संघ और राज्यों की स्वयतयत्ता लोकतंत्र समीक्षा, जनवरी, 1977, प्रकाशक, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपूर पृ॰– 91,93
(11) गुप्ता डीसी, भारतीय शासन और राजनीति, 2018, प्रकाशक, विकास पब्लिसिंग हाऊस, नई दिल्ली